फ़िल्म 'सुपर 30' के अनकहे मायने

पंखुड़ी अरोड़ा

समग्र विकास का काम नौजवान युवक-युवतियों का संगठन बनाकर करना होगा। जनता के बीच रचनात्मक कार्य करके हम अपना विकास ख़ुद करने और अपनी समस्याओं का हल अपने सामूहिक प्रयत्नों से करने का आदर्श पेश करेंगे। शासन करने वालों ने हमेशा हम मेहनत करने वालों को शिक्षा से वंचित रखा, क्योंकि वे जानते हैं कि अगर हम शिक्षित हो जाएँगे, तो अपनी ग़ुलामी के बन्धनों को तोड़कर खड़े हो जाएँगे।

जो पढ़ाई से भागता है, उसे समझाना होगा। बचपन से पढ़ने की आदत डालनी होगी। रात्रि पाठशाला इसके लिए उपयोगी है। दिनभर जहाँ भी रहो, रात में लालटेन के पास बैठकर, सब मिलकर कुछ पढ़ लो ज़रूर। जो आदमी पढ़ा-लिखा है उसका कर्त्तव्य है कि एक लालटेन यानी एक दल लड़के-लड़कियों की पढ़ाई का वो इन्तज़ाम करे। स्कूल-कॉलेजों में सबके लिए एक जैसी शिक्षा होनी चाहिए, सरकार पर भरोसा करने से नहीं चलेगा। शिक्षा में विकास के लिए हमें ख़ुद कोशिश करनी होगी। शिक्षा प्रचार को एक आन्दोलन का रूप देना होगा।

– शिबू सोरेन (झारखण्ड क्षेत्रीय बुद्धिजीवी सम्मेलन, 1978)

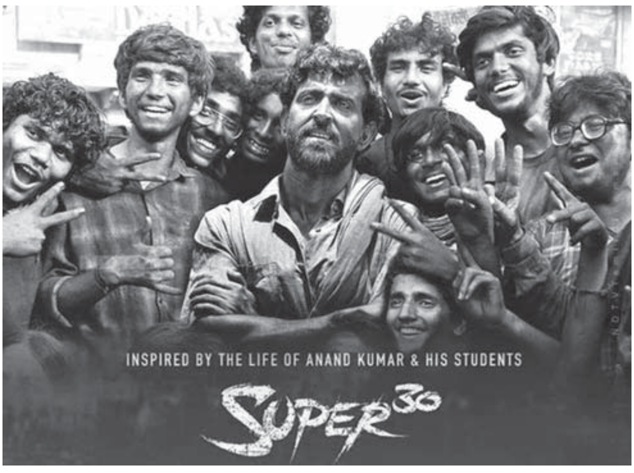

फ़िल्म *सुपर 30* को कई स्तरों पर बेरहमी से क्रिटिसाइज़ किया जा सकता है। जैसे कि इससे नीति निर्माण का काम आगे नहीं बढ़ता, बल्कि ऐसा लगता है कि अन्त में ज़िम्मेदारी लोगों की ही है। यह फ़िल्म दस्तावेज़ी होने और फ़िक्शन होने के बीच ऐसी टिकी है कि भावनाओं में बहकर दर्शक सब-कुछ स्वीकार कर लेते हैं। भाव-विभोर अश्रुओं के साथ गुस्सा और सवाल भी बह जाता है। इस फ़िल्म में एक इनसान को हीरो बनाने पर इतना ज़ोर है कि बिना विलेन के कहानी की कल्पना ही नहीं की जा सकती। और जबकि हमें पता है कि असली विलेन हमारा अपना सामाजिक-आर्थिक

ताना-बाना है, फिर भी एक-दो लोग जो उसका चेहरा बनकर हमारे सामने आते हैं उन्हें ही हम गुनहगार मान लेते हैं। उनके मंसूबों को बिगड़ता देखना हमें इतनी राहत देता है कि फिर उस बुनियादी ताने-बाने पर सवाल करने की ज़रूरत ही नहीं लगती। अपने आप को उन दो लोगों में नहीं पहचान पाते क्योंकि अहम् बहुत विकृत किया गया है। आनन्द हो, चाहे उसके छात्र हों या फिर फ़िल्म के विलेन हों- सब किरदार अपनी पूरी बात डायलॉग में ही करते हैं और इसमें ख़ूब रोमांच भी है साथ ही अन्त में सब ठीक होगा इसकी तसल्ली भी है!

पर, मुझे इस फ़िल्म का वह आयाम ज़्यादा पसन्द है जो हम लोगों को तक़लीफ़ देता है, हमें हमारे विशेषाधिकार का बोध कराता है और फिर इसके आगे बहुत-कुछ कहने को नहीं रह जाता। कभी-कभी चुप रहकर और बस सुनकर आत्मावलोकन भी करना चाहिए।

आनन्द का हृदय परिवर्तन : परिस्थिति क्या है?

आम्बेडकर बोले थे कि शोषण की प्रक्रिया में एक सोपान क्रमिकता (graded inequality) है। जैसे-जैसे नीचे जाते जाइए, हाशियाकरण का स्तर बढ़ता जाता है– दलित, ग्रामीण दलित, ग्रामीण भूमिहीन दलित, ग्रामीण भूमिहीन दलित महिला, आदि। इसी तरह आनन्द की कहानी भी इस एहसास को दिखाती है। आनन्द का परिवार बड़ी मुश्किल में गुज़र-बसर कर रहा होता है। कैम्ब्रिज में दाख़िला पा लेने के बावजूद ग़रीबी के कारण वह वहाँ नहीं जा पाता। फिर उसे अमीरों के बच्चों के लिए चल रहे कोचिंग सेंटर में पढ़ाने का ऑफ़र आता है जिससे उसके घर-परिवार के हाल में काफ़ी सुधार आता है। लेकिन यहीं से कहानी में उलटफेर हो जाता है। उसका हृदय परिवर्तन यूँ ही नहीं होता। ऐसा तब ही हुआ जब वह एक लड़के से मिला जो उससे भी ज़्यादा अभावग्रस्त परिस्थिति में अपनी पढ़ाई जारी रखे हुए था। कम-से-कम आनन्द की स्कूली पढ़ाई तो पूरी हुई थी! कम-से-कम उसके माँ-बाप ने उसकी पढ़ाई का और उसके कौशल का मरते दम तक समर्थन तो किया था! उस लड़के से मुलाक़ात जिसके पास इतना तक भी नहीं था, आनन्द को अमीर बच्चों के लिए चल रहे कोचिंग सेंटर पर पढ़ाने के अपने फ़ैसले पर सवाल पूछने पर मज़बूर कर देती है। उसे उस लड़के में ख़ुद की छवि नहीं बल्कि अपने से भी बदतर हालात में एक विद्यार्थी दिखा। आज तक आनन्द वर्ग और जाति जिस खाई और इसके नतीजतन उपेक्षा का मुकाबला करता आया था, उसके आगे एक दूसरे व्यक्ति को लाचार और उसकी लाचारी का असली कारण उसने देखा। ऐसी परिस्थिति में व्यक्ति कुछ करने की ठान ले तो परिस्थितियाँ उसे नहीं रोक सकतीं, यह फ़िल्म इस सोच पर तगड़ी चोट करती है। परिस्थितियाँ हमारी पहुँच को सीमित कर सकती हैं, हमारे पर काट सकती हैं, हमारी महत्त्वाकाँक्षा की सीमा तय कर सकती हैं।

मेरे मन में सवाल उठा कि परिस्थितियाँ संयोग हैं, या कुछ लोगों की सोची-समझी साज़िश, या फिर व्यवस्था की अपरिहार्य होनी? क्या फ़िल्म का कथानक हमें कोई संकेत देता है? यह समझने के लिए देखते हैं कि फ़िल्म का कथानक कैसे सोचता है। सूत्रधार है *सुपर 30* के पहले बैच का फुग्गा नाम का विद्यार्थी, और पहले सीन से ही वो फ़िल्म का दृष्टिकोण तय करता चलता है। फ़िल्म आशावादी है कहना काफ़ी नहीं होगा। उसकी आशा टिकी है बच्चों की शुद्ध मेहनत पर, कतई विपरीत परिस्थितियों को चुनौती समझकर स्वीकार करने पर और अन्ततः इस व्यापक ढाँचे की भलमनसाहत पर। हमारे देश में आईआईटी का सपना सिर्फ़ पूँजीवादी और एकलवादी आकांक्षा की देन नहीं है। यह बात फ़िल्म में कई बार कही जाती है कि यदि एक बच्चा आईआईटी तक पहुँचा तो उसके परिवार में सब लोग तरक्क़ी करेंगे। इससे यह भी कहा जा रहा है कि अगर ऐसी मुहिम कामयाब हो जाए तो आईआईटी और इन जैसी तमाम संस्थाओं का वर्ग चरित्र बदल सकता है। (इसकी असम्भाविता पर अन्तहीन बहस हो

सकती है, या फिर इसे हक़ीक़त बताया जा सकता है। हम क्या करेंगे यह इस बात पर निर्भर है कि हमारी निष्ठा किस ओर है?) फ़िल्म में आनन्द कहता है, "उन बच्चों के पास 'खोने को है ही क्या'?" इसका मतलब है कि उनके पास इस तरफ़ सब-कुछ दाँव पर लगा देने के अलावा कोई और विकल्प भी नहीं है।

वर्ग चेतना की सचेत शिक्षा : शिक्षण कार्यक्रम में अनुभव की जगह

फ़िल्म यह साफ़ संकेत देती है कि ऐसी शैक्षणिक मुहिम का एक अभिन्न हिस्सा होगा वर्ग चेतना का आनुभविक ज्ञान। वे पहले तीस छात्र जिन्होंने आनन्द के साथ यह सफ़र तय किया, और आज के वे छात्र भी जो आनन्द पर अभी भी हो रहे हमलों को देखते हैं, वे इन सवालों को जीते होंगे। बात सिर्फ़ आईआईटी की तैयारी की नहीं है, बात है सामाजिक वास्तविकता में शिक्षा की। सचेत रूप से इसे कार्यक्रम का हिस्सा बनाना ही होगा। ब्राज़ील के लोकप्रिय शिक्षाविद पाउलो फ़्रेरे शिक्षा और चेतना को जोड़कर कुछ ऐसी ही बात करते हैं। इसी से स्पष्ट होता है कि कोई भी भौतिक परिस्थिति उसकी पहुँच की सीमा तय नहीं करती। पर उसे यह समझने की ज़रूरत है, परिस्थिति को कैसे बदला जाए ये कोशिश करने की ज़रूरत है। इसी से हम एक और कसौटी पर किसी भी कार्यक्रम को तौल पाएँगे कि जिनके भी उत्थान के लिए वह कार्यक्रम है उसमें उनकी भूमिका कर्ता (subject) की है या कर्म (object) की। फ़्रेरे के अनुसार, "ऐसा तो हो ही नहीं सकता कि किसी संघर्ष में हमारी भूमिका कर्म की हो, और हम सोचें कि अन्त में हम कर्ता बन जाएँगे।"

इस फ़िल्म में बच्चे कर्म नहीं हैं। वे पूरी तरह आनन्द के साथ संघर्ष में भागीदार हैं। वे ज्ञान की संरचना जैसी कि आनन्द कल्पना करता है, उसमें सहकर्ता की भूमिका निभाते हैं।

आनन्द इसे मुक़म्मल होने के बीच एक बड़ा पहाड़ देखता है और वह है अँग्रेज़ी की जानकारी। ये एक अच्छा उदाहरण है परिस्थिति की प्रकृति के द्वन्द्व को समझने के लिए। कोई भी भाषा अपने-आप में वर्ग असमानता का कारण नहीं होती। और हमारे देश में तो गंगा उथली ही बहती है। मैकॉले जो कि अँग्रेज़ी में शिक्षा और अँग्रेज़ी शिक्षा के अगुवा कहलाए जाते हैं, और क्रिस्चियन मिशनरी समूह– सत्ताधारी उनसे ख़ासा नाराज़ हैं। वहीं बहुत से दलित समुदाय और महिलाएँ अपने शिक्षित होने का क्रेडिट इन्हीं को देती हैं। ख़ैर, फ़िल्म ये कहने का प्रयास करती है कि अगर इस रेस को जीतना है तो अँग्रेज़ी तो सीखनी ही होगी, उससे डर कर या बैर करके कुछ नहीं मिलेगा। बच्चों का अँग्रेज़ी से सामना होने का ये अनुभव उनका इससे दोस्ती का पहला क़दम होगा और इससे भी बढ़कर यह वर्ग संघर्ष के जटिल विमर्श का पहला अध्याय भी होगा।

शिक्षा व्यवस्था पर बनी फ़िल्में

पिछले 15-16 वर्षों में हमारी स्कूली / विश्वविद्यालयी शिक्षा प्रणाली को क्रिटिसाइज़ करती कुछ लोकप्रिय फ़िल्में बनी हैं, जैसे- *मुन्ना भाई एमबीबीएस* (2003), *तारे ज़मीं पर* (2007), *थ्री ईडियट्स* (2009), *स्टैनली का डब्बा* (2011), *गट्टू* (2012), *निल बटे सन्नाटा* (2016), *हिंदी मीडियम* (2017), *हिचकी* (2018), आदि। किसी भी फ़िल्म की कामयाबी उसके

परफ़ेक्ट होने में नहीं है, बल्कि वह कैसे आम धारणाओं को टक्कर दे पाती है उसमें है। ये सभी फ़िल्में शिक्षा के अलग-अलग मुद्दों को अपने-अपने तरीक़ों से आमजन के बीच लाती हैं। इन सभी फ़िल्मों में (*सुपर 30* भी इनमें शामिल है) एक बात जो समान है वह है- इन सभी की हैप्पी एंडिंग- और फिर सब बढ़िया हो गया...। इसे बॉलीवुड की परम्परा का बोझ भी कह सकते हैं जो दर्शकों को उम्मीद की पुड़िया बाँध कर ही घर भेजने पर कहानीकारों को विवश करती है। जबकि हम जानते हैं कि आनन्द पर क़ातिलाना हमले नहीं रुकेंगे, या वृहद (macro) स्तर पर *सुपर 30* जैसे कार्यक्रम कोई बड़ा बदलाव नहीं लाएँगे। *थ्री इडियट्स* के रेंचो को कुछ भी नहीं चाहिए– न डिग्री, न लड़की, न नौकरी। पर अन्त में उसे सब मिल भी जाता है, क्योंकि उसे मशीन की व्यावहारिक समझ भी है और तकनीकी परिभाषा भी याद है!

ख़ैर, यह सभी फ़िल्में एक जैसी नहीं है इनमें फ़र्क़ है। एक तरफ़ ऐसी फ़िल्में हैं जो शिक्षा की किसी एक समस्या को ऐसे लेंस से देखती हैं जिसमें समाज की व्यापक संरचना की कोई भूमिका नहीं है। ये समस्या सबको एक-सा सताती है- फिर चाहे आप ग़रीब हों या अमीर- जैसे कि *थ्री ईडियट्स, तारे ज़मीं पर*, आदि। फिर कुछ अन्य किस्म की फ़िल्में भी हैं जिनमें आरटीई का बड़ा ज़िक्र है। ख़ासतौर पर अनुच्छेद 25 का जिसमें सामाजिक-आर्थिक ग़ैर-बराबरी को कम करने के लिए शिक्षा का उद्देश्य रेखांकित होता है। इनमें आरटीई की सीमाएँ बताई गई हैं पर इनसे पार पाने के लिए बस एक व्यक्ति की ही ज़रूरत रहती है, जैसे– *हिचकी* में। *हिंदी मीडियम* और *निल बटे सन्नाटा* काफ़ी हद तक वर्ग असमानता की बात करती हैं। ये फ़िल्में शिक्षा के ज़रिए समाज में पूँजी का वर्चस्व बनाए रखने के मुद्दे को रखती हैं। पर *सुपर 30* इस तरह अलग है क्योंकि यह फ़िल्म जाति और वर्ग को जोड़कर शिक्षा व्यवस्था को सामाजिक-आर्थिक यथास्थिति को चुनौती देने की कसौटी पर तौलती है।

सुपर 30 एक ऐसी फ़िल्म है जो हमें किसी पक्ष लेने पर मज़बूर करती है। बाक़ी किसी भी फ़िल्म में हम और पीड़ित एक ही छोर पर हो सकते हैं, पर यह फ़िल्म कहीं-न-कहीं हमें चेता रही है कि 'कम-से-कम हमारा पेट तो भरा है'। एक टीचर या तो ग़रीबों के बच्चों को पढ़ा सकता है, या फिर अमीरों के बच्चों को। आख़िर ऐसा क्यों है? इसका मतलब है कि शिक्षा व्यवस्था *ज़ीरो सम गेम* है। ज्ञान असीम हो सकता है, पर कॉलेज में सीटें, पीएचडी करने के अवसर, और फिर नौकरियाँ, सब गिनी-चुनी हैं। बोर्ड की परीक्षा में सबके 100 में से 100 आ सकते हैं, पर दाख़िले के लिए एंट्रेंस परीक्षा में रैंक सबकी नहीं आ सकती। या तो वो आपके बच्चे को मिलेगी या किसी और के। तो हमें अपने विशेषाधिकार पर क़ब्ज़ा बनाकर रहना होगा। चाहे वो प्रतिस्पर्धा प्रणाली से हो या अँग्रेज़ी भाषा के माध्यम से।

शिक्षण में बदलाव : ज्ञान के शौक़ या तलाश (pursuit of knowledge) का सवाल

सुपर 30 की पाठशाला इन फ़िल्मों से अलग

नहीं है। किसी भी फ़िल्म में ऐसा कोई 'सामान्य' टीचर नहीं है जो अपनी सूझबूझ से पढ़ाने को दिलचस्प बना सके (*स्टैनली का डब्बा* में ज़रूर कुछ हद तक टीचर संवेदनशील है, और अपने विषय का ज्ञान रखती है)। सभी 'सामान्य' टीचर समस्या का हल ढूँढ़ने में न केवल नाकामयाब हैं, बल्कि समस्या का ही हिस्सा हैं। लेकिन आनन्द सभी परिस्थितियों में एक असामान्य व्यक्ति है जिसे भटकाव की परख है और वह अपनी कक्षा में फेरबदल करता रहता है। (*निल बटे सन्नाटा* में छात्र का सहपाठी, जो उसे गणित से प्यार करना सिखाता है, भी इनमें शामिल है।)

रेंचो द्वारा लद्दाख में शुरू किया गया स्कूल, जहाँ सब बच्चे बढ़िया से प्रयोग कर-करके सीख रहे हैं, बड़ा रोमांचक लगता है। पर वो वहाँ तक कैसे पहुँचा यह एक रहस्य है। *सुपर 30* में भी कहा गया है कि आनन्द पढ़ाता नहीं था वह एक जादूगर था। यह बात ग़ौर करने की इसलिए है क्योंकि आईआईटी के लिए तैयारी के कार्यक्रम अकसर चर्चा में रहते हैं और चूँकि वहाँ ज़ोर रटन्त ज्ञान पर होता है, कम-से-कम समय में ज़्यादा ठीक विकल्प का अनुमान लगाने के पैंतरे छात्रों को सिखाए जाते हैं। इस पूरी प्रक्रिया में उनकी बुनियादी संकल्पना (concept) पर ध्यान नहीं दिया जाता है, जिससे वे विषय से आत्मीय प्रेम नहीं कर पाते, और स्वतंत्र पढ़ने का रस नहीं ले पाते। उन्हें समय-सीमा, और अंकों के बाह्य अनुशासन का पालन करना सिखाया जाता है, न कि ज्ञान निर्माण के रोमांच से निकला स्वानुशासन। पर कम-से-कम फ़िल्म में तो आनन्द की कक्षा में सीखे हर ज्ञान का इस्तेमाल उसके छात्र व्यावहारिक रूप में भी बहुत अच्छे से करते दिखे। बात सिर्फ़ 'एप्लाइड' ज्ञान की ही नहीं है, बल्कि ज्ञान के 'पर्स्यूट' की है, और फ़िल्म की शुरुआत का फ़िल्म के अन्त में इसी ज्ञान के पर्स्यूट में बेहद सुन्दर मिलन होता है। यानी रटना, रैंक, नम्बर लाना मूल बात है ज्ञान से प्रेम करना। पहले आनन्द हर चीज़ में बस गणित देखता था, पर अब उसके छात्र अपने आसपास विज्ञान की पहेलियाँ सुलझा रहे होते हैं।

यह तो सही है कि कक्षा में रोज़-रोज़ गीत गवाकर बच्चों को राज़ी नहीं रखा जा सकता। किस शिक्षक को नहीं पता कि बच्चों को पेंटिंग करने को दे दो तो उनकी कल्पना में विस्तार होगा। पर विज्ञान, अर्थशास्त्र, भौतिकी, भाषा विज्ञान, आदि के शिक्षक इन फ़िल्मों से क्या आशय निकालते हैं, यह जानना ज़रूरी है। क्योंकि अन्त में वे ही हैं जो ख़ुद भी परिवर्तनकर्ता (agents of change) हैं, और उन्हें ही बच्चों को परिवर्तन का कर्ता बनाना है।

पंखुड़ी अरोड़ा ने 2018 में TISS, मुम्बई से प्रारम्भिक शिक्षा में एमए किया। आपने कुछ साल विद्या भवन में भाषा की टीम के साथ काम किया है। फ़िलहाल केन्द्रीय विद्यालय, दलगाँव, असम में प्राथमिक शिक्षक के पद पर कार्य कर रही हैं।
सम्पर्क : bharatpankhuri@gmail.com